



दैनिक भास्कर

Date: 18-06-26

दलबदल कानून किस बिंदु पर आकर नाकाम हो रहा है?

संपादकीय

दो संविधान संशोधनों और अपने अस्तित्व के 41 साल बाद भी दलबदल कानून लक्ष्य पाने में नाकाम रहा है। दरअसल नैतिक पतन का इलाज मात्र कानून नहीं कर सकता। पश्चिम बंगाल (और अब महाराष्ट्र) के सांसदों के पाला बदलने से एक बार फिर एक अनजान दल बगैर किसी चुनावी जीत के संसद में बड़ी पार्टी बनने जा रहा है। यह उस बड़ी बीमारी को बताता है, जो संवैधानिक उद्देश्यों को प्रभावहीन कर रही है। सत्ताधारी गठबंधन इस दलबदल से मजबूत होकर संविधान संशोधन के लिए दोनों सदनों में अपेक्षित दो-तिहाई बहुमत हासिल कर सकता है। 52वें (1985) और 91वें (2003) संविधान संशोधनों ने दलबदल की प्रक्रिया के कारणों के मूल में गए बगैर संख्यात्मक बंदिशें लगाईं। स्प्लिट को मर्जर में बदला यानी विधायिकाओं में मूल पार्टी की कुल संख्या के दो-तिहाई से निकलने वाले समूह का किसी दल में विलय करना शर्त बना। भारत में केंद्र और राज्य स्तर पर सैकड़ों पार्टियां हैं। किसी को भी पकड़ लें। कानून देखता रह जाएगा। सुप्रीम कोर्ट के दर्जनों फैसले भी नैतिक पतन को नहीं रोक सके। दलबदल पूर्णतः गलत है लेकिन इसे इसलिए कानून में कुछ प्रतिबंधों के साथ रखा गया कि वैचारिक स्तर पर सांसद-विधायक पार्टी के बंधक न रहें और सामूहिक प्रतिकार करें। लेकिन तब क्या व्हिप के तहत उन्हें बाध्य करना उसी सिद्धांत की अनदेखी नहीं है? बेहतर होता कि अगर किसी पार्टी के टिकट पर कोई चुनाव जीता हो तो दल छोड़ने पर सदस्यता स्वतः खत्म मानी जाए।



दैनिक जागरण

Date: 18-06-26

संकट में क्षेत्रीय दल

संपादकीय

तृणमूल कांग्रेस के बाद शिवसेना-उद्धव गुट के नौ में से छह लोकसभा सदस्यों की ओर से शिवसेना-शिंदे में शामिल होने की तैयारी केवल यही नहीं बताती कि वे सत्तापक्ष के साथ जाने को आतुर हैं, बल्कि यह भी रेखांकित करती है कि भारतीय राजनीति में मौकापरस्ती बढ़ती जा रही है। शिवसेना में यह दूसरी टूट है।

इसके पहले भी उसके विधायक एवं सांसद टूट चुके हैं और पार्टी अपना चुनाव चिह्न भी गंवा चुकी है। उसके लिए इस एक और झटके से उबर पाना कठिन होगा। अब उसके सामने अपना अस्तित्व बचाने का संकट है। अपने इस संकट और बिखराव के लिए वही अधिक जिम्मेदार है। यदि उद्धव ठाकरे मुख्यमंत्री बनने के लालच में धुर विरोधी कांग्रेस और राष्ट्रवादी कांग्रेस पार्टी से हाथ नहीं मिलाते तो शायद आज उनके दल की स्थिति कुछ और होती।

उद्धव ठाकरे ने सत्ता के लिए अपनी पुरानी साझीदार और वैचारिक रूप से करीबी भाजपा से केवल नाता ही नहीं तोड़ा, बल्कि इसी के साथ अपनी विचारधारा को भी ताख पर रख दिया। शिवसेना उन कुछ क्षेत्रीय दलों में से थी, जिसकी अपनी एक विचारधारा थी। वह मूलतः अपनी विचारधारा से भटकने के कारण ही बिखरी।

तृणमूल कांग्रेस की तो कोई विचारधारा ही नहीं थी। केवल सत्ता पाना और उसमें येन-केन-प्रकारेण बने रहना ही उसकी राजनीति का केंद्र बिंदु था। यह केंद्र बिंदु हटते यानी सत्ता जाते ही वह बिखर गई। क्षेत्रीय दलों की समस्या केवल यही नहीं कि उनमें से कुछ की ही विचारधारा है। एक समस्या यह भी है कि वे अलोकतांत्रिक तरीके और किसी निजी कंपनी की तरह चलते हैं। ऐसे दलों में पार्टी प्रमुख या परिवार विशेष ही सब कुछ होता है।

उसके आगे किसी की नहीं चलती। लोकतंत्र में अधिनायकवादी तरीके से चलने वाले दलों के लिए कोई स्थान नहीं होना चाहिए, लेकिन अपने देश की राजनीति का दुर्भाग्य यह है कि अनेक दल इसी तरह चलते हैं। प्रायः यही उनके बिखराव का कारण बनता है। क्षेत्रीय दलों में बिखराव का संकट इसलिए और बढ़ गया है, क्योंकि उनके जनप्रतिनिधियों के लिए राजनीति का मतलब अवसरवाद हो गया है। वे कभी भी दल बदल लेते हैं। ज्यादातर मौकों पर पद या पैसे के लालच अथवा अन्य किसी राजनीतिक लाभ के लिए दलबदल किया जाता है।

किसी के दल बदलने में हर्ज नहीं, लेकिन ऐसा करने के पहले यह आवश्यक है कि वे विधायक या सांसद पद से त्यागपत्र दें। ऐसा न करना जनादेश का निरादर है। लगभग सभी राजनीतिक दल समय-समय पर दलबदल को बढ़ावा देते रहे हैं। दलबदल रोधी कानून के बावजूद विधायकों-सांसदों के टूट का सिलसिला कायम है। हालांकि इस कानून को कठोर बनाया जा चुका है, लेकिन वह भी प्रभावी सिद्ध नहीं हो रहा है, क्योंकि अब दलबदल को हेय दृष्टि से नहीं देखा जाता।

Date: 18-06-26

भारतीय राजनीति की बीमारी दलबदल

जगदीप सिंह, (लेखक राजनीति शास्त्र के सहायक प्रोफेसर हैं)

भारत को विश्व के सबसे बड़े लोकतंत्र की प्रतिष्ठा प्राप्त है, जहां जनादेश पर ही पूरा राजनीतिक ढांचा टिका है, लेकिन हालिया घटनाएं इस ढांचे को आघात पहुंचा रही हैं। हाल में तृणमूल कांग्रेस के करीब 20 लोकसभा सदस्यों का एक अनजान से छोटे क्षेत्रीय दल में विलय कर राजग के प्रति समर्थन जताना और शिवसेना (यूबीटी) के सांसदों के शिंदे गुट की ओर रुझान ने दलबदल की समस्या को फिर से राष्ट्रीय बहस में ला दिया है।

स्वतंत्रता के बाद से यह संस्कृति राजनीति का अभिन्न हिस्सा बनी हुई है। वर्ष 1951 से 1967 के बीच 16 महीनों में 542 विधायकों ने दल बदला, जबकि 1967-68 के महज 12 महीनों में ही ऐसे 438 मामले दर्ज हुए। इस राजनीतिक अराजकता ने कई सरकारें गिराई और 1985 में 52वें संविधान संशोधन के जरिये 10वीं अनुसूची लाई गई, मगर आंकड़े बताते हैं कि यह कानून भी पूरी तरह असफल रहा है।

दलबदल न केवल दल विशेष में अस्थिरता पैदा करता है, बल्कि मतदाताओं के विश्वास को हिला देता है। 1967-70 के बीच राज्यों में 1240 से ज्यादा दलबदल हुए, जिनमें से अधिकांश मंत्रिपद या आर्थिक लाभ के लालच से प्रेरित थे। कानून लागू होने के बाद 1985-95 के दशक में यह संख्या घटकर करीब 120 रह गई, जो शुरू में 70 प्रतिशत की कमी दर्शाती है, लेकिन 2000 के बाद इसमें फिर उछाल आया।

2000-2023 के बीच विभिन्न दलों से सैकड़ों मामले सामने आए, जिसमें भाजपा और कांग्रेस दोनों शामिल रहे। महाराष्ट्र में 2022 का संकट इसका जीवंत उदाहरण है, जहां एकनाथ शिंदे के नेतृत्व में शिवसेना के 40 विधायकों के विद्रोह ने उद्धव ठाकरे सरकार गिरा दी। इसी तरह मध्य प्रदेश (2020), कर्नाटक (2019) और अरुणाचल प्रदेश (2016) में भी बड़े पैमाने पर दलबदल ने लोकतांत्रिक जनादेश को पलट दिया। इन घटनाओं ने साबित कर दिया कि 10वीं अनुसूची की खामियां दलबदल को वैधता दे रही हैं।

इस समस्या का सबसे गहरा प्रभाव राजनीतिक स्थिरता पर पड़ता है। गठबंधन युग में जहां केंद्र और राज्यों में बहुमत अक्सर नाजुक होता है, वहां एक छोटे गुट का दलबदल सरकार को अस्थिर कर सकता है। इससे नीतिगत निरंतरता भंग होती है, विकास योजनाएं रुकती हैं और जनहित के मुद्दे सत्ता संघर्ष में दब जाते हैं। एक अध्ययन में पाया गया कि दलबदल विधायक सामान्य विधायकों की तुलना में दो से तीन गुना अधिक मंत्रिपद पाने की संभावना रखते हैं, जो भ्रष्टाचार को बढ़ावा देता है। मतदाता, जिन्होंने उम्मीदवार को दल के एजेंडे पर चुना होता है, खुद को ठगा महसूस करते हैं।

मौजूदा दलबदल रोधी कानून की सबसे बड़ी कमजोरी स्पीकर की भूमिका है, जो अक्सर सत्ताधारी दल के प्रभाव में रहती है। फैसले लंबे समय तक लंबित रहते हैं, जिससे नेता बिना सजा के अपनी सीट पर काबिज रहते हैं। 2003 के 91वें संशोधन ने एक-तिहाई की जगह दो-तिहाई सदस्यों के विलय की छूट दी, लेकिन तृणमूल कांग्रेस के 20 सांसदों ने इसी छूट का फायदा उठाकर एक छोटे दल में विलय कर लिया। सर्वोच्च न्यायालय ने स्पीकर के फैसले पर न्यायिक समीक्षा की गुंजाइश दी, मगर व्यावहारिक रूप से देरी बनी रही।

परिणामस्वरूप कानून का उद्देश्य विफल हो गया। तमाम विश्लेषण बताते हैं कि यह कानून दलबदल रोकने में सफल नहीं रहा।

दलबदल की संस्कृति भ्रष्टाचार को संस्थागत रूप देती है। दलबदल अब खुलेआम होता है, जहां सांसदों-विधायकों को मंत्रिपद, टिकट या अन्य लाभ देकर अपने पाले में किया जाता है। छोटे दलों के टूटने से संघीय ढांचा भी प्रभावित होता है। 2000-2015 के बीच दर्जनों ऐसे मामले सामने आए जहां दलों से बड़े पैमाने पर स्विचिंग हुई। इस बीमारी को रोकने के लिए सशक्त कानून अपरिहार्य है। स्पीकर की जगह एक स्वतंत्र ट्रिब्यूनल या चुनाव आयोग को अयोग्यता का अधिकार सौंपा जाए, ताकि पक्षपात समाप्त हो।

विलय की छूट को पूरी तरह खत्म किया जाए या न्यूनतम सीमा बढ़ाई जाए। दलबदल करने वाले को न केवल तत्काल अयोग्य ठहराया जाए, बल्कि अगले पांच वर्ष तक चुनाव लड़ने पर प्रतिबंध लगाया जाए। आंतरिक पार्टी लोकतंत्र को मजबूत करने के लिए चुनाव आयोग दलों के आंतरिक चुनावों की निगरानी करे। मतदाता जागरूकता अभियान चलाकर जनता को ऐसे नेताओं से सावधान किया जाए।

कुछ लोग दलबदल को अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता मानते हैं, लेकिन वास्तविकता में यह सिद्धांतों से ज्यादा सत्ता लिप्सा से प्रेरित होता है। जर्मनी और न्यूजीलैंड जैसे देशों में दलबदल रोकने के सख्त प्रविधान सफल रहे हैं, जहां व्यक्तिगत स्वतंत्रता और सामूहिक जनादेश का संतुलन बना है। भारत में संसद को संयुक्त समिति गठित कर कानून की समीक्षा करनी चाहिए। यदि हम इस समस्या को नजरअंदाज करते रहे, तो लोकतंत्र सिर्फ चुनावी औपचारिकता बनकर रह जाएगा।

दलबदल भारतीय राजनीति की पुरानी बीमारी है। सशक्त कानून, पारदर्शिता और आंतरिक सुधारों से ही इसे रोका जा सकता है। तभी जनादेश की गरिमा बनी रहेगी और लोकतंत्र सच्चे अर्थों में मजबूत होगा। चुने गए प्रतिनिधि जनता के प्रति जवाबदेह रहें, यही इस व्यवस्था की सच्ची परीक्षा है।

बिज़नेस स्टैंडर्ड

Date: 18-06-26

स्थायी समाधान जरूरी

संपादकीय



सरकार ने टेलीग्राम मेसेजिंग ऐप को 22 जून तक प्रतिबंधित कर दिया है। इस तारीख के एक दिन पहले ही चिकित्सा पाठ्यक्रमों के लिए राष्ट्रीय पात्रता सह प्रवेश परीक्षा वानी नीट- यूजी 2026 की पुनर्परीक्षा आयोजित की जाएगी। यह गलत दिशा में उठाया गया कदम है। संकट मेसेजिंग ऐप के माध्यम से लीक हुए प्रश्नपत्रों के प्रसार में नहीं, बल्कि राष्ट्रीय परीक्षा एजेंसी (एनटीए) की अक्षमता में है जो परीक्षा आयोजित करती है। विवाद तब शुरू हुआ जब एक शिक्षक ने सोशल मीडिया पर प्रसारित एक अनुमानित या मॉक परीक्षा पत्र और वास्तविक प्रश्नपत्र के बीच महत्वपूर्ण समानताएं उजागर की।

केंद्रीय अन्वेषण ब्यूरो (सीबीआई) की फौरी जांच से पता चला कि यह समानता संयोग नहीं बल्कि पुणे स्थित एक रसायनशास्त्र प्रोफेसर और एनटीए पैनल के पेपर सेटर की वजह से थी जिनकी पहुंच गोपनीय परीक्षा सामग्री तक थी। उन्होंने विशेष कोचिंग सत्र आयोजित किए जिनमें उन्होंने प्रश्न और उत्तर चुनिंदा छात्रों को बताए। इन छात्रों को राजस्थान के कोचिंग केंद्रों में

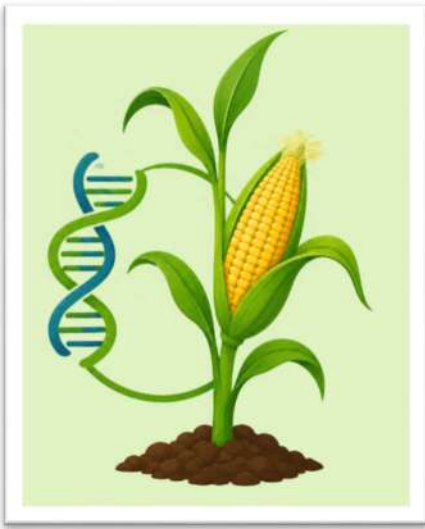
संपर्कों के माध्यम से अन्य एनटीए-मान्यता प्राप्त विषय विशेषज्ञों द्वारा जुटाया गया था। ऐसे में मूल समस्या एनटीए के भीतर है न कि कोई तकनीकी मुद्दा सरकार के निर्णय के खिलाफ टेलीग्राम ने दिल्ली उच्च न्यायालय का रुख किया है। सूचना प्रौद्योगिकी अधिनियम, 2000 की धारा 69 का उपयोग करके अब टेलीग्राम को प्रतिबंधित करने के लिए सरकार ने भारी कानूनी तंत्र को सक्रिय कर दिया है। इस धारा के तहत प्रतिबंधित करने के आधारों में अन्य बातों के अलावा भारत की संप्रभुता, अखंडता और रक्षा तथा संज्ञेय अपराधों को रोकना शामिल है। वास्तव में जिस अपराध की वजह से 22.7 लाख परीक्षार्थियों को 21 जून को नीट- यूजी परीक्षा दोबारा देनी पड़ रही है वह वास्तव में एनटीए की व्यवस्था के भीतर कमजोर प्रणालीगत सतर्कता का मामला था। टेलीग्राम और अन्य सोशल मीडिया चैनल इस धांधली के प्रसारक भर के निर्माता नहीं। सरकार ने टेलीग्राम को बंद करने के अपने निर्णय को इस रूप में समझाया है कि यह उन धोखाधड़ी चैनलों को रोकने का प्रयास है। जो शुल्क लेकर प्रश्नपत्र उपलब्ध कराने का दावा करते हैं। हालांकि एनटीए के महानिदेशक ने तय से विस्तार से बताया है कि ये घपले कैसे काम करते हैं और क्यों छात्रों को इनके झांसे में नहीं आना चाहिए। उन्होंने छात्रों से वह भी आग्रह किया है कि वे संदिग्ध दानों की रिपोर्ट माईगव पोर्टल पर करें।

यदि एनटीए के महानिदेशक पहले ही छात्रों को इन धोखाधड़ियों के बारे में चेतावनी दे चुके हैं और वह भी दावा करते हैं कि दोबारा होने वाली परीक्षा के प्रश्नपत्र सुरक्षित हैं तो सोशल मीडिया चैनलों को ब्लॉक करने की भला क्या आवश्यकता है। सरकार का कुछ आक्रोश इस तथ्य पर केंद्रित है कि टेलीग्राम अपने सर्वर भारत के बाहर रखता है और भारतीय कानून प्रवर्तन एजेंसियों के साथ अपना मेटाडेटा साझा करने से इनकार करता है। अधिकारियों का कहना है कि इसी वजह से वे धांधली की उत्पत्ति का पता नहीं लगा पाए। यह भी अव्यावहारिक है क्योंकि सीबीआई पहले ही कारण की पहचान और आरोपियों को गिरफ्तार कर चुकी है। चूंकि भारत में टेलीग्राम के 15 करोड़ उपयोगकर्ता हैं। इसलिए अस्थायी रूप से ही सही लेकिन यह पूर्ण प्रतिबंध सामान्य उपयोगकर्ताओं के लिए दिक्कत पैदा करेगा जबकि संभावित धोखेबाज आसानी से अन्य सोशल मीडिया प्लेटफॉर्म जैसे व्हाट्सएप या इंस्टाग्राम का इस्तेमाल कर सकते हैं।

यह पहली बार नहीं है जब नीट यूजी प्रश्नपत्रों के लीक होने के आरोप सामने आए हैं। 2024 में भी इसी तरह की घटनाएं रिपोर्ट हुई थीं। हालांकि जांच से पता चला कि लोक बिहार और गुजरात के कुछ विशेष केंद्रों से जुड़ा था। उस समय सर्वोच्च न्यायालय ने व्यवस्थागत खामी की संभावना को खारिज कर दिया था। लेकिन अब ऐसे संकेत हैं कोचिंग संस्थानों और पेपर तैयार करने वालों के बीच ओवरलैप को देखते हुए यह चलन आसानी से बड़े पैमाने पर हो सकता है। यही वह गठजोड़ है जिसे एनटीए को तत्काल संबोधित करना है। अस्थायी सोशल मीडिया प्रतिबंध कारण का नहीं बल्कि केवल लक्षणों का इलाज करते हैं।

जीएम फसलों के सामन्तर जोखिम

संपादकीय



विज्ञान अब हमारे घर की दहलीज को पार कर हमारी रसोई तक पहुंच गया है। क्या हमने कभी अपनी थाली में रखी रोटी या सब्जी को देख कर यह सोचा है कि उसका 'डीएनए' क्या है? निश्चित रूप से इस पर किसी ने नहीं सोचा होगा। आनुवांशिक रूप से परिवर्तित (जीएम) फसलों का मुद्दा अब महज प्रयोगशालाओं का विमर्श नहीं रहा, बल्कि यह हमारी थाली की सुरक्षा और देश के कानून के लिए एक द्वंद्व बन गया है। एक तरफ भूख मिटाने के लिए विज्ञान वरदान की तरह है, तो दूसरी तरफ स्वास्थ्य और पर्यावरण के अनसुलझे जोखिम। यह विषय केवल कृषि का नहीं, बल्कि नीति-निर्माण और भविष्य की सुरक्षा का भी है।

जीएम फसलों का अर्थ समझना सरल है, मगर इसका निहितार्थ अत्यंत जटिल। इसे एक उदाहरण से समझा जा सकता है। जैसे हम 'फोटो एडिटिंग ऐप' से किसी तस्वीर में 'फिल्टर' लगाते हैं, वैसे ही वैज्ञानिक किसी फसल के बीज में कोई दूसरा

'वांछित जीन' डाल देते हैं, ताकि वह अधिक पैदावार दे सके, सूखे को झेल सके या कीटों से लड़ सके। विज्ञान की भाषा में इसे 'ट्रांसजेनिक' कहते हैं, लेकिन आम आदमी के लिए यह अपनी थाली में किसी 'अपरिचित' मेहमान के आने जैसा है। हम नहीं जानते कि यह मेहमान हमारा मित्र है या शत्रु?

जब हम एक पौधे के प्राकृतिक गुणों के साथ छेड़छाड़ करते हैं, तो केवल एक जीन नहीं बदलते, बल्कि उस पूरी खाद्य शृंखला को प्रभावित करते हैं, जिसका हिस्सा वह पौधा है। जैव-प्रौद्योगिकी समर्थकों का तर्क है कि बढ़ती आबादी के लिए यह अनिवार्य है, जबकि आलोचकों का मानना है कि 'प्राकृतिक क्रम' में हस्तक्षेप के परिणाम नकारात्मक एवं दीर्घकालिक हो सकते हैं।

भारत में जीएम फसलों की कानूनी स्थिति बेहद सतर्क रही है। हमारे यहां विनियमन का ढांचा मुख्य रूप से 'पर्यावरण (संरक्षण) अधिनियम, 1986' के तहत गठित 'जेनेटिक इंजीनियरिंग मूल्यांकन समिति' के कंधे पर है। यह समिति तय करती है कि कौन-सी फसल देश में उगाई जा सकती है और उसके परीक्षण के मानक क्या होंगे।

भारत में अभी तक केवल 'बीटी कपास (Bt Cotton)' को व्यावसायिक खेती की अनुमति मिली है, जो एक गैर-खाद्य फसल है। खाद्य फसलों के मामले में, जैसे कि जीएम सरसों का मामला लंबे समय से विवादों में रहा है। यह दर्शाता है कि नियामक संस्थाओं और जनहित के बीच एक गहरी खाई है। तकनीकी मंजूरी मिल जाना एक बात है, लेकिन सामाजिक स्वीकृति और कानूनी वैधता प्राप्त करना दूसरी बड़ी बात है।

कानूनी परिप्रेक्ष्य में सुप्रीम कोर्ट की भूमिका निर्णायक रही है। अरुणा रोड्रिग्स बनाम भारत संघ (2005) का मामला इसका सबसे बड़ा उदाहरण है। याचिकाकर्ताओं ने तर्क दिया कि जीएम फसलों के परीक्षण में जैव-सुरक्षा का ध्यान नहीं रखा गया है। अदालत ने बार-बार 'एहतियाती सिद्धांत' को रेखांकित किया है। इसका अर्थ यह है कि यदि किसी तकनीक से पर्यावरण या सेहत को नुकसान होने की थोड़ी भी संभावना हो, तो उसे लागू करने में जल्दबाजी नहीं करनी चाहिए। यह सिद्धांत ही हमारी थाली की सुरक्षा का सबसे बड़ा कानूनी कवच है।

इसी तरह, आर्यावर्त बनाम भारत संघ (2023) जैसे मामलों में अदालतों ने जोर दिया है कि जैव-सुरक्षा से समझौता करना संविधान के अनुच्छेद 21 के तहत प्राप्त 'जीवन के अधिकार' और 'स्वस्थ भोजन के अधिकार' का उल्लंघन हो सकता है। अदालतें यहां केवल कानून की व्याख्या नहीं कर रही हैं, बल्कि वे एक 'अभिभावक' की भूमिका निभा रही हैं, जो विज्ञान की चकाचौंध में जन-स्वास्थ्य को ओझल नहीं होने देना चाहतीं।

दुनिया भर में जीएम फसलों को लेकर तस्वीर अलग है। अमेरिका में जीएम सोयाबीन और मक्का बड़े पैमाने पर खाया जाता है। वहां की सरकार और कंपनियां इसे 'नवाचार' मानती हैं और इसे अर्थव्यवस्था का आधार बताती हैं। वहीं, यूरोपीय संघ ने अत्यंत कड़े नियम अपनाए हैं। वहां उत्पादों पर 'अनिवार्य लेबलिंग' का पालन होता है, ताकि उपभोक्ता को पता हो कि वह 'प्राकृतिक' खा रहा है या 'जीएम'। यह बताता है कि यह केवल भारत का डर नहीं, बल्कि पूरी दुनिया इस तकनीक को 'परखने' के दौर में है।

यह वैश्विक मतभेद भी दर्शाता है कि जीएम फसलों का मुद्दा केवल विज्ञान पर नहीं, बल्कि राजनीतिक और सांस्कृतिक दृष्टिकोण पर भी टिका है। यूरोपीय संघ की सावधानी यह सिखाती है कि उपभोक्ता की 'जानने की इच्छा' और 'पसंद की स्वतंत्रता' को तकनीक के ऊपर प्राथमिकता दी जानी चाहिए।

इस विषय का एक अत्यंत अनूठा और कम चर्चित पहलू 'बौद्धिक संपदा अधिकार' और 'खाद्य संप्रभुता' है। कानून की नजर में यह कंपनियों के पेटेंट और किसानों के परंपरागत अधिकारों के बीच का युद्ध है। जब कोई कंपनी बीज का पेटेंट ले लेती है, तो किसानों को हर साल नया बीज खरीदना पड़ता है। यह परंपरा के विपरीत है, जहां किसान खुद बीज सुरक्षित रखता था।

भारत में 'पादप किस्म और कृषक अधिकार संरक्षण अधिनियम, 2001' मौजूद तो है, लेकिन बड़ी कंपनियों के पेटेंट के सामने गरीब किसानों की आवाज प्रायः दब जाती है। अगर बीज पर नियंत्रण विदेशी कंपनियों का होगा, तो हमारी कृषि नीति कहां जाएगी? हमें यह सुनिश्चित करना होगा कि तकनीक के साथ-साथ किसानों के अधिकार भी सुरक्षित रहें।

खाद्य सुरक्षा के लिए सरकार को पूर्ण पारदर्शिता को अनिवार्य बनाना चाहिए, ताकि जीएम उत्पादों का उपयोग करने वाले उपभोक्ताओं को यह जानने का अधिकार हो कि वे क्या उपभोग कर रहे हैं। यह सूचना के अधिकार का ही एक तार्किक विस्तार है। इस पारदर्शिता के साथ-साथ, सुरक्षा जांचों की विश्वसनीयता सुनिश्चित करने के लिए कंपनियां द्वारा प्रस्तुत आंकड़ों के बजाय सरकार की ओर से अधिकृत स्वतंत्र प्रयोगशालाओं से गहन जांच कराई जानी चाहिए।

इसके अतिरिक्त, एक सख्त कानून का होना अत्यंत आवश्यक है, जिसमें यह स्पष्ट प्रावधान हो कि मिट्टी की उर्वरता, भूजल प्रदूषण या जन-स्वास्थ्य पर पड़ने वाले किसी भी नकारात्मक प्रभाव के लिए संबंधित कंपनियां आर्थिक रूप से उत्तरदायी होंगी। नीति-निर्धारण की प्रक्रिया को लोकतांत्रिक बनाने के लिए किसी भी नई जैव-प्रौद्योगिकी के व्यापक

कार्यान्वयन से पहले स्थानीय स्तर पर सार्वजनिक सुनवाई अनिवार्य की जानी चाहिए, ताकि किसान और आम जनता इस प्रक्रिया का अभिन्न अंग बन सकें।

इन सभी पहलुओं की प्रभावी निगरानी के लिए 'जीएम निगरानी बोर्ड' का गठन जरूरी है। साथ ही यह समझना आवश्यक है कि विज्ञान दुश्मन नहीं है, लेकिन तकनीक और प्रकृति के बीच का संतुलन ही जीवन की कुंजी है। हमें जीएम फसलों के एकतरफा विरोध और आंख मूंदकर समर्थन करने से बचना होगा।

कानून का काम है कि वह नवाचार को रोके नहीं, बल्कि उसे सुरक्षा के दायरे में रखे। क्या तकनीक के नाम पर हम अपनी पारंपरिक खेती को दांव पर लगा रहे हैं? यह प्रश्न आज हर नीति-निर्माता की मेज पर होना चाहिए। सतर्कता ही वह सुरक्षा है, जो हमारे भोजन और जीवन को सार्थक बनाती है।



Date: 18-06-26

दलबदल का नया दौर

संपादकीय

दलबदल या दलों में टूट की सियासत इन दिनों बहुत तेज हो गई है। तृणमूल कांग्रेस की टूट अभी ताजा ही है, तो उद्धव ठाकरे की शिव सेना की टूट सामने आने लगी है। दोनों टूट में फर्क यही है कि तृणमूल का आलाकमान अपनी टूट को बचाने के लिए ऊपरी तौर पर बहुत सक्रिय नहीं दिख रहा था, लेकिन उद्धव ठाकरे अपनी बाकी बची पार्टी को बचाने के लिए एड़ी-चोटी का जोर लगा रहे हैं। शिव सेना (यूबीटी) के शायद छह सांसद अलग दल के रूप में मान्यता प्राप्त करने के प्रयास में लगे हैं और अंततः एकनाथ शिंदे के नेतृत्व वाली शिव सेना में शामिल हो जाएंगे। हालांकि, उद्धव ठाकरे और उनके वरिष्ठ नेता प्रवक्ता संजय राउत पार्टी सांसदों को अपनी चिर परिचित आक्रामकता के साथ एकजुट करने के प्रयास में लगे हैं। दिल्ली में जिस तरह की कवायद चल रही है, उससे ऐसा लगता है कि उद्धव की सेना में टूट की स्थिति गुरुवार को स्पष्ट हो जाएगी। यह उनके नेतृत्व वाली सेना में दूसरी टूट होगी। अगर यह टूट हुई, तो न सिर्फ महाराष्ट्र की सियासत बदलेगी, बल्कि उद्धव ठाकरे को फिर से जमीनी तौर पर जूझना पड़ेगा। दलबदल की आंधी तेज है और टूटने से बचना बहुत बड़ी चुनौती है।

टूट के बादल राजनीतिक रूप से महत्वपूर्ण उत्तर प्रदेश में भी उमड़ते लग रहे हैं, पर बरसेंगे या नहीं, कहना कठिन है। वैसे, आज की राजनीति में कुछ भी संभव है। यहां अनहोनी को होनी बनने में ज्यादा वक्त नहीं लगता है। राजनेताओं में न पहले जैसी राजनीतिक शुचिता है। और न राजनीतिक दलों में पहले जैसा अनुशासन। समय के साथ लगातार महंगी होती राजनीति अपनी अलग ही राह पर आगे बढ़ रही है। दलबदल में धन की भूमिका पर चर्चा तृणमूल कांग्रेस की टूट के समय में नहीं हुई थी, पर उद्धव सेना में पचास करोड़ और पंद्रह करोड़ रुपये के आंकड़े उछाले जा रहे हैं। राजनीति

में धन का इस्तेमाल चौकाता नहीं है, पर यहां जो पीड़ित होता है, वही धन का रोना रोता है। दलबदल के जो मामले सामने आ रहे हैं, उनसे साफ पता चलता है, राजनीतिक दल अब आत्म-समीक्षा नहीं करते हैं। उनके संगठन की अब बड़ी बैठकें नहीं होती हैं। दलों में अब वैसा लोकतंत्र नहीं है, जैसी उम्मीद की जाती है। ये दल किसी एक नेता या उसके छोटे समूह द्वारा संचालित हो रहे हैं। मनमुटाब तो हर पार्टी में होता है, लेकिन परस्पर संवाद या सत्ता की शक्ति से पार्टियां फिर भी मजबूत बनी रहती हैं, पर टूट जब सबके सामने आती है, तब पार्टी की असली कमी- कमजोरी का पता चलता है। तृणमूल कांग्रेस के मामले में हमने यह देखा है, कमजोरियों को दबाया जा रहा था और अब ऐसा लग रहा है कि यह पार्टी कम से कम तीन टुकड़े होने वाली है।

क्षेत्रीय पार्टियों ने देश के लोकतंत्र को मजबूती दी है, लेकिन उन्हें अब खुद अपनी मजबूती पर गौर करना होगा। कोई दोराय नहीं, आज केंद्र में सत्तारूढ़ भाजपा बहुत सशक्त है और विपक्षी दलों को पूरे दमखम के साथ अपना बचाव करना होगा। यह भूलना नहीं चाहिए, महिला आरक्षण विधेयक मामले में भाजपा को संसद में अपनी सबसे बड़ी राजनीतिक हार का सामना करना पड़ा था। यह चर्चा किसी को भी चकित नहीं कर रही है कि सत्तारूढ़ गठबंधन दो-तिहाई बहुमत हासिल करने के प्रयास में लगा है। वैसे भी, सियासत में नया खेमा चुनने या बनाने का यह दौर कोई पहली बार नहीं आया है। सारे इशारे गवाही दे रहे हैं कि सबसे बड़ी पार्टी अपनी ताकत से सियासत का चेहरा बदल रही है और शायद अभी शीशे का कोई घर सलामत नहीं है।
